© 2017 IJSRSET | Volume 3 | Issue 8 | Print ISSN: 2395-1990 | Online ISSN : 2394-4099

व्यावसायिक नैतिकता (गाँधी के दृष्टिकोण में)

डॉ वरूण नाथ तिवारी
दर्शनशास्त्र विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद।

जब हम प्रत्येक जीव में अपने को और अपने में प्रत्येक जीव को देखते हैं तभी हममें किसी जीव का आदर करने की भावना उत्पन्न होती है। दूसरे का दुख अपना दुख मानना, दूसरे का सुख अपना सुख मानना– यही अहिंसा की सामाजिक अभिव्यक्ति है। आर्थिक क्षेत्र में अहिंसा सह–उत्पादन, सम–वितरण, सह–उपभोग, सह–जीवन के रूप में प्रकट होती है। यदि आप दूसरों को भूखा रखकर, दूसरों को नंगा रखकर भोजन करते हैं या वस्त्र धारण करते हैं तो यह हिंसा है। यह कार्य विविध रूपों में समाज में दिखलाई पड़ता है।

एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को किसी प्रकार का शोषण या किसी प्रकार का आर्थिक कष्ट न पहुँचाए और सभी प्रकार के आर्थिक कष्ट झेलकर भूखों रहकर, किसी को भी अपनी आँखों से भूखा न देखे– यही अहिंसक स्वराज और समाज की धारणा है।

अस्तेय का आर्थिक स्वरूप

जब हम दूसरे के जीवन में बाधक न होकर सहायक होते हैं तो अहिंसा अस्तेय के रूप में प्रकट होती है। अस्तेय का शाब्दिक अर्थ है– चोरी न करना, और दूसरे की वस्तु की आकांक्षा भी न करना। किसी वस्तु को लावारिस समझकर लेना भी चोरी है। यहाँ तक तो अस्तेय शब्द का अर्थ समझना सरल है, परंतु इसका स्वरूप आगे चलकर सामाजिक परिवेश में साधन और व्रत के रूप में बृहत् हो जाता है। एक वस्तु की जरूरत होते हुए भी यदि दूसरे के अधिकार में वह है तो उसे अनचाहे–चाहे लेना भी चोरी होगी। अनावश्यक कोई भी वस्तु नहीं लेनी चाहिए। वस्तुतः हर मनुष्य अपनी आवश्यकता की मात्रा जानता है फिर भी अपनी जरूरतों को आवश्यकता से अधिक बताता है और अनजान में ही चोर बन जाता है। ऐसी चोरी जो आत्मा को नीचे गिराती है, मानसिक चोरी होती है। कोई भी अच्छी वस्तु देखकर ललचाना मानसिक चोरी है। आज जो वस्तु केवल विचार में होती है कल उसे पाने के हम भले–बुरे तरीके काम में लाते हैं।

अस्तेय–व्रत पालन करने वाला उत्तरोत्तर अपनी आवश्यकताएँ कम करता जाएगा। इस संसार में अधिकतर दरिद्रता अस्तेय–भंग से पैदा हुई।[11] मनुष्य जब अपनी आवश्यकताओं को केवल स्वास्थ्यकारी सीमा तक रखेगा; स्वादकारी न रखेगा तो उसकी आवश्यकताएँ न्यूनतम होंगी। उसे सच्चा सुख प्राप्त होगा। आज की सारी छीना–झपटी से वह मुक्त हो जाएगा। वस्तुओं का कृत्रिम अभाव वस्तुओं का दुरूपयोग बंद हो जाएगा। उपभोग की असीम आकांक्षा को कम करना, इसे स्वास्थ्यकारी सीमा तक बाँध देना ही अस्तेय है।

अपरिग्रह का आर्थिक स्वरूप

परिग्रह का अर्थ है संचय या इकट्ठा करना और अपरिग्रह का अर्थ है कि जरूरत से ज्यादा चीज न रखना। वास्तव में चुराया हुआ न होने पर भी अनावश्यक संग्रह चोरी का सा माल हो जाता है। अस्तेय में हम दूसरे की वस्तु का हरण नहीं करते, परंतु अपरिग्रह उससे एक कदम आगे जाता है। 'रोज जरूरत भर का पैदा करने' के नियमों को हम नहीं जानते अथवा जानते हुए भी पालन नहीं करते हैं। अतः जगत में विषमता और उससे होने वाले दुःख भोगते हैं। अभ्यास से मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को घटा सकता है, और ज्यों–ज्यों आवश्यकता घटती जाती है, त्यों–त्यों सुखी, शांत और सब तरह से आरोग्यवान होता जाता है।

सारी सुविधा और आराम का होना जरूरी है, लेकिन उससे आगे बढ़ने पर ये सुविधाएँ आराम में सहायक बनने के बजाय हमारी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक बन जाती हैं। इसलिए जरूरतें अधिक से अधिक बढ़ाने एवं उन्हें पूरा करने का आदर्श निराभ्रम और जाल ही है। मनुष्य की शारीरिक जरूरतें पूरी करने यहाँ तक कि उसकी बौद्धिक जरूरतें पूरी करने की भी एक सीमा होनी चाहिए, क्योंकि उस सीमा को लाँघने पर वह प्रयत्न शारीरिक और बौद्धिक विलास का रूप ले लेता है। मनुष्य को अपने शारीरिक सुखों और सांस्कृतिक सुविधाओं की ऐसे ढंग से से व्यवस्था करनी चाहिए कि वे उसकी मानव–सेवा में बाधक न बनें। मनुष्य की सारी शक्तियों का उपयोग मानव सेवा में ही होना चाहिए।[12]

''मनुष्य की वृत्तियाँ चंचल हैं, उसका मन बेकार की दौड़–धूप करता है। उसका शरीर जितना ग्रहण करता है उससे और ज्यादा माँगता जाता है। ज्यादा लेकर भी वह सुखी नहीं रहता। भोग–भोगने से भोग की इच्छा बढ़ती जाती है।[13]

शारीरिक श्रम का आर्थिक स्वरूप

''शरीर–श्रम का जो पवित्र रूप व्रत और साधना में प्रकट होता है, उसका उद्देश्य यही है कि आज का घनिष्ठ, संपत्तिनिष्ठ समाज श्रमनिष्ठ समाज में परिवर्तित हो जाए। रोटी के लिए हर आदमी का मजदूरी करना, हाथ–पैर हिलाना ईश्वरीय नियम है। भगवतद्गीता के तीसरे अध्याय में भी प्रकट होती है। यज्ञ के बिना खाने वाला चोरी का अन्न खाता है। यहाँ यज्ञ का अर्थ कायिक–श्रम या रोटी–श्रम ही शोभा देता है।

मजदूरी न करने वाले को खाने का कोई अधिकार हो सकता है? बाइबिल के अनुसार– ''अपनी रोटी तू अपना पसीना बहाकर कमाना व खाना।''

स्वदेशी का आर्थिक स्वरूप

गांधीजी के स्वदेशी–व्रत के पीछे बड़ी ही गूढ़ क्रांति का बीज छिपा हुआ है। आर्थिक, राष्ट्रीय, सामाजिक, राजनीतिक और नैतिक उद्धार का रहस्य इसमें है।

स्वदेशी, स्वावलंबन तथा स्वराज्य का पर्यायवाची सिद्धांत है। स्वदेशी का अभिप्राय विशद अर्थ में है– विदेशी वस्तुओं का परित्याग और गृह–निर्मित वस्तुओं का प्रयोग, ताकि गृह उद्योग का संरक्षण हो, एवं विशेष रूप से उन उद्योगों का जिनके अभाव में भारतवर्ष भिक्षुक बन जाएगा।

''स्वदेशी व्रतधारी अपनी परिस्थितियों को पूर्ण समझकर स्थानीय उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं, चाहे वे घटिया एवं उच्च कीमत की ही क्यों न हों, का उपभोग करेगा। अन्य स्थानों की निर्मित वस्तुओं पर अपने आसपास की वस्तुओं को वरीयता देगा और अपने पड़ोसी की सहायता करेगा। यही स्वदेशी धर्म है, इसी से हम पूर्ण समर्थ और स्वावलंबी होंगे।''[14]

ट्रस्टीशिप का आर्थिक स्वरूप

गांधीजी ने ट्रस्टीशिप के सिद्धांत को स्पष्ट करते हुए कहा, ''मैं व्यक्तिगत रूप से यह पसंद करूंगा कि ट्रस्टीशिप की भावना बढ़े, क्योंकि मेरा ख्याल है कि राज्य की हिंसा से व्यक्ति की हिंसा कम खतरनाक है। ट्रस्टीशिप का सिद्धांत इस बात पर आधारित है कि जिनके पास धन है, वह उसे अपना समझकर फजूल व्यय न करे, थाती समझकर रखे और लोक–कल्याण में खर्च करे। जब तक धनिक वर्ग स्वेच्छा से अपना धन त्याग नहीं देता, अथवा उसे जनता की अमानत समझकर खर्च नहीं करता तब तक हिंसात्मक क्रांति अनिवार्य है। धनाढ्य लोग यदि जन–सामान्य की तरह सादगी से रहते हैं और खर्च कम करते हैं तो वे जनता के ट्रस्टी कहे जाते सकते हैं। जो ट्रस्टीशिप की भावना रखेगा, वह लोगों को दबाकर और उनका शोषण करके धन नहीं जमा करेगा। मैं धनाढ्य वर्ग की जायदाद बिना कारण अपहृत करने के पक्ष में नहीं हूँ। मेरे कितने ही पूँजीपति मित्र है, और वे जानते हैं कि मैं पूँजीवाद समाप्त करने के लिए श्रमजीवी या साम्यवादी से भी ज्यादा उत्सुक हूँ। पर पूँजीवाद को समाप्त करने का मेरा तरीका अलग है और ट्रस्टीशिप के सिद्धांत पर निर्भर है।''[15]

प्रत्येक व्यक्ति समाज में एक–दूसरे की प्रत्यक्ष एवं परोक्ष सहायता से संपत्ति या भौतिक वस्तुओं का अर्जन करता है। मनुष्य की कोई भी शक्ति बिना एक–दूसरे की सहायता के अर्जित नहीं होती। सभी के पास पेट और शरीर की प्राथमिक आवश्यकताएँ हैं। इन आवश्यकताओं की किसी देश और समाज में पूर्ण तृप्ति

होती है और किसी में नहीं। ऐसी स्थिति में उत्पादन का कुछ भाग किसी न किसी रूप में समाज के कुछ समर्थ व्यक्तियों के पास, संपत्ति या धन के रूप में एकत्रित हो जाता है। इस संपत्ति या साधन का स्वामित्व इस व्यक्ति का नहीं, अपितु सारे समाज का होता है। वह व्यक्ति तो केवल ट्रस्टी (न्यासी) के रूप में अपने पास रखता है ताकि उसका प्रयोग समाज के लिए किया जा सके। संत विनोबा भावे के दान की आधारशिला यही न्यासधारिता का विचार है। भूमि, संपत्ति, श्रम, बुद्धि, साधन, यह सब व्यक्ति विशेष के पास संरक्षण के लिए रखा हुआ है। व्यक्ति विशेष उसे समाज को लौटा दे। वह उसे उपभोग के लिए नहीं है। इस प्रकार ट्रस्टीशिप समाज परिवर्तन का एक आर्थिक विचार है।

गांधीजी के अनुसार संपत्ति न तो पूर्णतया लोभ का परिणाम है, न तो पूर्णतया मनुष्य के पुरूषार्थ या मितव्ययिता का परिणाम है। इसका प्रमुख कारण पूँजीवादी समाज है जो मनुष्य की आवश्यकताओं की तृप्ति का आश्वासन नहीं देता। इसलिए लोग संग्रह करते हैं जो वस्तुतः चोरी है क्योंकि एक तरफ तो अभाव और आवश्यकता है और दूसरी तरफ आधिक्य और अनावश्यकता। गांधीजी ने इसमें एक कड़ी और जोड़ दी और कहा कि जो उत्पादक बिना शरीर–श्रम किए खाता है वह चोर है। ऋग्वेद में यह भी कहा गया कि जो अकेले खाता है, वह चोर है (केवलाद भवति केवलादो–ऋग्वेद)। उन्होंने यह बराबर माना है कि जिसके पास संपत्ति और स्वामित्व होता है, वह सदैव दुष्ट नहीं होता है। इसलिए उन्होंने ट्रस्टीशिप या न्यासधारिता का सिद्धांत रखा, जिसमें अस्तेय और अपरिग्रह आर्थिक रचना के मूल सिद्धांत है।

सामाजिक परिस्थिति या स्वयं के पुरूषार्थ से जो कुछ भी मनुष्य को प्राप्त हो, उसे वह धरोहर माने। इसी प्रवृत्ति का नाम ट्रस्टीशिप है। प्रत्येक व्यक्ति के पास जो संपत्ति और स्वामित्व है, उसे वह अपने उपभोग के लिए न समझे और न तो उसे ब्याज, किराया, मुनाफा, ठेका या दलाली द्वारा बढ़ाने का प्रयत्न करे। इस थातेदारी के सिद्धांत को गांधीजी ने सामाजिक परिवर्तन का साधन माना। गांधीजी अस्तेय और अपरिग्रह के आधारभूत सिद्धांतों की ट्रस्टीशिप में इस प्रकार जोड़ देते हैं कि स्वामित्व और संपत्ति की भूमिका और उसका आशय परिवर्तित हो जाता है, यहाँ तक कि स्वामित्व और संपत्ति का लगभग विसर्जन हो जाता है।

आज के समाज में अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि मजदूर को 'पूँजी' काम देती है। इसलिए पूँजी मालिक है और मजदूर नौकर है। इस आशय को गांधीजी बदल देते हैं। वे परिश्रम को प्रधानता देते हैं। परिश्रम प्रधान है और परिश्रम पूँजी का उपभोग करेगा। श्रम के लिए पूँजी का उपयोग होना चाहिए, न कि पूँजी के लिए श्रम का। यहाँ पर गांधीजी ने श्रम को भी एक महान संपत्ति माना और श्रमिक को भी एक ट्रस्टी माना। जिस प्रकार हमारा शरीर ट्रस्टी (न्यासी) है उसी प्रकार समस्त वस्तुएँ ट्रस्टी के रूप में हैं।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1. गीताबोध, मंगल प्रभात, 19.8.30, पृ0 84
2. निर्मल कुमार बोस, सिलेक्शन्स फ्रॉम गाँधी, पृ0 39
3. हिंद स्वराज, प्रकरण 23, पृ0 45–46
4. यंग इंडिया, 18 जून 1931, पृ0 148
5. महात्मा गाँधी के लेखों तथा भाषणों से